डा० ईश्वरचन्द्र शर्मा
एम० ए०, पी-एच० डी०

जैनधर्म के नैतिक सिद्धान्त

जैन दर्शन ऐतिहासिक दृष्टि से बौद्ध धर्म की अपेक्षा अधिक प्राचीन है. इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह दर्शन अहिंसा को जीवन का परम लक्ष्य और मोक्ष का अनिवार्य साधन मान कर चलता है. इस प्रकार भारतीय दर्शनों में जैनवाद को प्राचीनतम अहिंसावादी दर्शन स्वीकार किया जाता है. जैनियों की यह धारणा है कि उनका धर्म तथा उनका दर्शन वैदिक विचारधारा से भी अधिक प्राचीन है. इसमें कोई सन्देह नहीं कि वर्द्धमान महावीर जैनधर्म के प्रवर्तक नहीं थे, अपितु एक सुधारक थे. यह सत्य है कि महावीर से पूर्व जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे और महावीर के माता-पिता पार्श्वनाथ के अनुयायी थे. महावीर ने निस्संदेह जैन दर्शन को एक व्यवस्थित रूप दिया है और साधुओं तथा गृहस्थ अनुयायियों के लिए अहिंसा धर्म पर आधारित ऐसे नैतिक नियमों का प्रतिपादन किया है, जो आज तक जैन समाज द्वारा आदर्श स्वीकार किए जाते हैं. जैन आचारमीमांसा अत्यन्त कठिन और कड़े नैतिक नियमों को प्रतिपादित करती है. इससे पूर्व कि हम जैन आचारशास्त्र की विस्तृत व्याख्या करें, हमारे लिए यह बताना आवश्यक है कि जैन आचारशास्त्र कड़े अनुशासन पर क्यों बल देता है ?

जैनवाद में कठोरता का कारण

हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि जैनवाद निवृत्तिमार्ग को अपनाता है और उस प्रवृत्तिमार्ग का विरोध करता है, जो वैदिक दृष्टिकोण के अनुसार क्रियात्मक सामाजिक जीवन को वांछनीय स्वीकार करता है. जिन प्राचीन वैदिक मंत्रों का आर्य लोग गान करते थे, देवताओं और परमेश्वर के प्रति सांसारिक जीवन की सफलता के लिये प्रार्थना मात्र थे. किन्तु धीरे-धीरे वैदिक विचारकों ने यह अनुभव किया कि त्याग की भावना विना वे मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते. इसके फलस्वरूप उन्होंने चार आश्रमों की प्रथा को प्रचलित किया. ये चार आश्रम ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास हैं. इसी प्रकार वैदिक धर्म के अनुसार अर्थ, काम, धर्म तथा मोक्ष इन चार पुरुषार्थों को भी स्वीकार किया गया है. वैदिक दृष्टिकोण के अनुसार मोक्ष की प्राप्ति क्रमिक हो सकती है, यद्यपि उस प्राप्ति के लिये संन्यास अत्यंत आवश्यक है. जीवन के पहले तीन आश्रम संन्यास की उस अन्तिम अवस्था की तैयारी मात्र हैं, जिस पर पहुँच कर मोक्ष की अनुभूति हो सकती है. ब्रह्मचर्य अवस्था में व्यक्ति के लिये अपने समय और शक्ति को विद्या प्राप्त करने में लगाना इसलिये आवश्यक है कि वह गृहस्थ आश्रम में प्रविष्ट होने के लिये योग्यता प्राप्त करके अर्थ तथा काम को अनुभूत कर सके. पच्चीस वर्षों तक पर्याप्त धन उपार्जन करने के पश्चात् वानप्रस्थ आश्रम में पच्चीस वर्ष धर्माचरण में लगाना आवश्यक है. इस अवस्था में व्यक्ति नैतिकता का उपदेश करता है तथा उसका आचरण करता है और सामाजिक कल्याण में प्रवृत्त हो जाता है. अन्तिम पच्चीस वर्ष ध्यान तथा आत्मानुभूति के लिये इसलिये नियत हैं कि व्यक्ति संन्यास की अवस्था में जीवन्मुक्त हो जाय और अन्त में विदेह मुक्ति को प्राप्त करे.

वेदवाद अथवा ब्राह्मणवाद इस प्रकार अनासक्त तथा त्याग के जीवन की ओर क्रमशः अग्रसर होने में विश्वास रखता था. जीवन की यह योजना निःसंदेह आकर्षक और व्यापक थी. लेकिन उस समय के विचारकों ने विशेष कर जैन सिद्धान्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के समर्थकों ने यह अनुभूत किया कि इस योजना की सफलता में दो मुख्य बाधाएँ थीं. प्रथम बाधा यह थी कि जब व्यक्ति एक बार गृहस्थजीवन में प्रविष्ट हो जाता है तो उसके लिये विषयभोग आदि का त्यागना तथा काम, क्रोध, मोह एवं लोभ से मुक्त होना अत्यंत कठिन हो जाता है. तृष्णा अनन्त है और उसकी तृप्ति कदापि संभव नहीं है. इस दृष्टिकोण को उत्तराध्ययन सूत्र में निम्न लिखित शब्दों में अभिव्यक्त किया गया है—

"और यदि कोई व्यक्ति एक मनुष्य को सम्पूर्ण पृथ्वी भी दे दे, तो भी वह उसके लिये काफी न होगी. किसी भी व्यक्ति को तृप्त करना अत्यंत कठिन है. तुम जितना अधिक प्राप्त करोगे, उतनी ही अधिक तुम्हारी आवश्यकता बढ़ेगी. तुम्हारी वासनाएँ तुम्हारे साधनों के साथ-साथ बढ़ती चली जायेंगी."

दूसरी बाधा यह है कि संन्यासजीवन की यह क्रमिक योजना, यह मानकर चलती है कि जीवन की कम से कम अवधि एक सौ वर्ष है. वास्तव में जीवन अस्थिर है और किसी भी क्षण एक धागे की भांति टूट सकता है. यदि एक बार व्यक्ति, अपने आध्यात्मिक विकास के अवसर से चूक जाय, तो उसे पुनः मनुष्य का जन्म लेने के लिये युगों की प्रतीक्षा करनी पड़ सकती है. विख्यात जैन आगम उत्तराध्ययन सूत्र में लिखा है—

"जिस प्रकार वृक्ष का सूखा पत्ता किसी भी समय गिर जाता है, इसी प्रकार मनुष्य का जीवन भी समाप्त हो जाता है. हे गौतम ! तुम हर समय सावधान रहो ! जिस प्रकार कुशा के तिनके पर लटकी हुई ओस की बूंद क्षण भर के लिये ही अस्तित्व रखती है, मनुष्य का जीवन भी वैसा ही अस्थिर है. गौतम ! तुम हर समय सावधान रहो !"

विश्व के अनेक विचारकों ने जीवन की अनिश्चितता से प्रभावित हो कर क्रियात्मक सांसारिक जीवन को निरर्थक घोषित किया है.

बुद्ध ने दुःख तथा जीवन की अनिश्चितता से प्रेरित हो कर ही संसार को त्याग दिया. वह अशोक महान्, जिसका नाम विश्व के इतिहास में प्रेम और शान्ति का प्रतीक माना जाता है, इसी प्रकार दुःख तथा जीवन की अनिश्चितता से प्रभावित हुआ. विख्यात पाश्चात्य दार्शनिक काण्ट की उदात्त नैतिकता और विश्वव्यापी शुभ संकल्प की धारणा भी मानवीय दुःखों के अनुभव से ही प्रेरित थी. काण्ट एक कड़े नैतिक अनुशासन में विश्वास करता था. यही कारण है कि जैनवाद में कठोर नैतिक अनुशासन पर बल दिया गया है. इसलिये महावीर ने साधुओं के लिये ऐसे नैतिक नियम निर्धारित किये, जो उन्हें पूर्णतया विरक्त बना दें.

जैनवाद के नैतिक सिद्धांत की व्याख्या करते हुए हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि विशेषकर साधु अथवा मुमुक्षु के लिये सत्य, अहिंसा ब्रह्मचर्यादि महाव्रतों का पालन विशेष महत्त्व रखता है और उनका अनुसरण करने के लिये विशेष सावधानी की आवश्यकता है. एक साधु अथवा साध्वी के लिये अहिंसा का व्रत स्वयं धारण करना ही पर्याप्त नहीं है, अपितु इस के साथ-साथ उसके लिये स्वयं हिंसा न करना और न ही किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा किसी प्रकार की हिंसा करवाना अनिवार्य है. इसी प्रकार एक साधु के लिये स्वयं असत्य न बोलना ही पर्याप्त नहीं है, अपितु हर प्रकार के असत्य का बहिष्कार करना और मन, वचन तथा काया से असत्य का साधन न बनना भी आवश्यक है. इसी प्रकार अस्तेय अथवा अचौर्य के महाव्रत को धारण करने का अर्थ न स्वयं चोरी करना और नहीं प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में चोरी का समर्थन करना है. ब्रह्मचर्य का महाव्रत एक साधु से यह आशा रखता है कि वह हर प्रकार के काम-प्रवृत्यात्मक सम्पर्क से मुक्त हो और ऐसे कर्मों का साधन भी न बने. जैनवाद के अनुसार पांचवां महाव्रत अपरिग्रह का है. इस के अनुसार साधु के लिये स्वयं किसी भी सम्पत्ति को न रखना और किसी अन्य व्यक्ति द्वारा संचित संपत्ति का साधन न बनना भी आवश्यक है. इन पांच महाव्रतों का पालन करना प्रत्येक मुमुक्षु के लिये आवश्यक है. इस प्रकार का कड़ा नैतिक अनुशासन इसलिये प्रतिपादित किया गया है कि जैनवाद मोक्ष को चरम लक्ष्य मानता है. इससे पूर्व कि हम जैनवाद की आचारमीमांसा की व्याख्या करें, हमारे लिये यह आवश्यक है कि हम तत्त्ववाद तथा आचारशास्त्र के अभेद-सम्बन्ध पर एक बार दृष्टि डालें.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसका कारण यह है कि जैनवाद एक नैतिक तत्त्वात्मक (Ethico-Metaphysical) सिद्धांत है. यह बात सदैव स्मरण रखनी चाहिये कि तत्त्वविज्ञान के बिना आचारशास्त्र न केवल अव्यावहारिक है, अपितु असंगत और असंभव भी है. एक वास्तविक नैतिक मनुष्य वही है जो दार्शनिक भी है और एक यथार्थ दार्शनिक वह नहीं है जो केवल सत्य का ज्ञान रखता हो, अपितु वह है जो दार्शनिक सिद्धान्तों को अपने व्यावहारिक जीवन पर लागू करता हो. इसी दृष्टिकोण को पुष्ट करते हुये विल ड्यूरैंट (Will Durant) ने एक दार्शनिक का दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुये लिखा है—"To be a philosopher .....is not merely to have subtle thought, nor even to found a school, but so to love wisdom as to live according to its dictates, a life of simplicity, independance magnanimity and trust".

अर्थात् दार्शनिक होने का अर्थ केवल सूक्ष्म विचार रखना नहीं है और न ही कोई सिद्धान्त प्रतिपादन करना मात्र है, अपितु उसका अर्थज्ञान से उस प्रकार प्रेम रखना है कि उसके आदेश के अनुसार सरलता, स्वतंत्रता, सम्मान तथा सत्यपरायणता का जीवन व्यतीत किया जाय.

यदि हम पाश्चात्य दर्शन के इतिहास पर दृष्टि डालें, तो इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि दर्शन का प्रत्येक उदात्त सिद्धान्त, स्पाइनोजा के सिद्धान्त की भांति तत्त्ववाद से आरम्भ होता है और आचारशास्त्र में समाप्त होता है. जहाँ तक भारतीय दर्शन के सिद्धान्तों का संबंध है, हम यह कह सकते हैं कि नास्तिक तथा आस्तिक सिद्धान्त, समान नैतिक दृष्टिकोण रखते हुये भी एक-दूसरे से इसलिये विभिन्न हैं कि उनकी तत्त्वात्मक मान्यतायें समान नहीं हैं. चार्वाक जैसे नास्तिक सिद्धान्त भी अपनी सुखवादी आचारमीमांसा को उन तत्त्वात्मक धारणाओं पर आधारित करता है. जो पूर्णतया भौतिक हैं. यह एक खेद की बात है कि भारतीय दर्शन में यह प्रमाणित करने के लिये पर्याप्त सामग्री उपलब्ध नहीं कि चार्वाक दर्शन एक पूर्ण विकसित सिद्धान्त था. तथापि हम चार्वाकज्ञानमीमांसा, तत्वमीमांसा तथा आचारमीमांसा के विषय में, भारतीय दर्शन के अन्य ग्रन्थों में उल्लेख प्राप्त करते हैं. अन्य सभी ग्रन्थों ने तो चार्वाक धारणाओं का विरोध करने के लिये ही चार्वाक दर्शन का प्रकरण दिया है और इसलिये भारतीय दर्शन के इस भौतिक सिद्धान्त के प्रति जो सामग्री उपलब्ध है वह चार्वाक ज्ञानमीमांसा तत्त्वमीमांसा तथा आचारमीमांसा को निषेधात्मक सिद्धान्त ही प्रमाणित करती है.

हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि अन्य सभी भारतीय दार्शनिक सिद्धान्तों की भाँति चार्वाकसिद्धान्त भी यह मानकर चलता है कि आधारभूत सत्ताका यथार्थ ज्ञान ही हमारे जीवनका मार्गदर्शन कर सकता है. क्योंकि हम यथार्थ ज्ञान को केवल प्रत्यक्ष द्वारा ही प्राप्त कर सकते हैं, इसलिए चार्वाकदर्शन के अनुसार कोई भी ऐसी वस्तु वास्तविक नहीं है जिसका कि हम प्रत्यक्ष अनुभव नहीं कर सकते हैं. परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि चार्वाक दार्शनिकों ने आधारभूत सत्ता को अस्वीकार किया है, यद्यपि उनका उद्देश्य अन्य सिद्धान्तों द्वारा स्वीकृत ईश्वर, आत्मा तथा अमरत्व की धारणाओं का विरोध करना था. चार्वाकदर्शन निःसन्देह भौतिक द्रव्य को सत्ता मानकर चलता है, यद्यपि यह भौतिक द्रव्य वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी तक ही सीमित माना गया है. क्योंकि चार्वाकदर्शन के अनुसार भौतिक द्रव्य ही वास्तविक है, इसलिये हम अधिक-से-अधिक सुख केवल भौतिक विषयों से ही प्राप्त कर सकते हैं. इस प्रकार चार्वाकदर्शन का मोक्ष के प्रति निषेधात्मक दृष्टिकोण भी विशेष महत्त्व रखता है और यह प्रमाणित करता है कि चार्वाकदर्शन के अनुसार आचारशास्त्र तत्त्वमीमांसा पर निर्भर है.

अन्य सिद्धान्तों ने चार्वाक-आचारशास्त्र को अप्रमाणित करने के लिये उसकी तत्त्वात्मक धारणाओं पर ही आक्षेप किया है और ऐसा करके ही चार्वाक-आचारशास्त्र को निराधार बताने की चेष्टा की है. भारतीय स्वभाव से तत्ववादी हैं. इस आध्यात्मिक ऋषिभूमि में कोई भी ऐसा दर्शन नहीं पनप सकता जो तत्त्वात्मक न हो अथवा जिसका तत्त्वात्मक आधार निर्बल हो ; क्योंकि दर्शन शब्द का अर्थ आधारभूत सत्ता का प्रत्यक्षीकरण है. यही कारण है कि भारतीय दर्शन के इतिहास में अनेक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक सिद्धान्तों का उत्थान-पतन हुआ है. यही तथ्य भारतीय संस्कृति के इतिहास के उस विरोधाभास की व्याख्या करता है जिसके अनुसार उदात्त नैतिक बुद्धधर्म, विश्वप्रिय होता हुआ भी अपनी जन्मभूमि से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उखाड़ दिया गया. महात्मा बुद्ध की उदात्त आचारमीमांसा, उनका अष्टविध सरलतम नैतिक विधान अहिंसा की आध्यात्मिक धारणा पर आधारित होता हुआ भी भारतीय जनता द्वारा इसलिये स्वीकार न किया गया कि उसमें तत्त्वात्मक प्रेरणा न थी. हमारे देश में केवल वे ही सिद्धान्त स्थिर रह सकते हैं जिनकी तत्त्वात्मक पृष्ठभूमि अत्यन्त दृढ़ है. भारतीय दर्शन के सिद्धान्त और व्यवहार का इतिहास यह प्रमाणित करता है कि तत्त्व-विज्ञान के विना आचार-शास्त्र अन्धा है और आचारशास्त्र के विना तत्त्व-विज्ञान शून्य है.

जैनवाद की सभी धारणाएं आचार सम्बन्धी तथा पूजा सम्बन्धी मतभेद रखते हुए भी इस बात में सहमत हैं कि आधारभूत सत्यों का यथार्थ ज्ञान मोक्ष की प्राप्ति के लिये नितान्त आवश्यक है. उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार—'वही व्यक्ति सत् का आचरण करने वाला है जो आधारभूत सत्य ज्ञान में विश्वास रखता है'. जैनवाद के अनुसार जीव के बन्धन का एक मात्र कारण मिथ्यात्व अथवा आधारभूत सत्यों के प्रति मिथ्याज्ञान है. यही कारण है कि जैन आचार-शास्त्र का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिये जैन तत्त्वमीमांसा पर प्रकाश डालना नितान्त आवश्यक है. वर्द्धमान महावीर ने जिन नव तत्त्वों को प्रतिपादित किया है वे आजतक जैन सिद्धान्त की आधारशिला हैं. ये नवतत्त्व निम्नलिखित हैं—(१) जीव (२) अजीव (३) पुण्य (४) पाप (५) आस्रव (६) बन्ध (७) संवर (८) निर्जरा (९) मोक्ष. इन तत्त्वों की व्याख्या जैनवाद में इसलिये की जाती है कि हम यह जान सकें कि जीव किस प्रकार संसारचक्र में फंसता है और उसे किन विधियों द्वारा मुक्त किया जा सकता है. यहाँ पर यह बता देना आवश्यक है कि वास्तव में जैनवाद के अनुसार जीव तथा अजीव दो मुख्य तत्त्व हैं और अन्य सभी तत्त्व इन दोनों के विभिन्न स्तर हैं. दूसरे शब्दों में जीव तथा अजीव दो आधारभूत सत्ताएं हैं, पुण्य पाप आदि उनकी उपाधियां हैं.

जीव—जीव को चैतन्य माना गया है और ज्ञान तथा दर्शन उसके दो मुख्य लक्षण बताए गए हैं. जीव में पांच प्रकार के ज्ञान हैं, जिन्हें मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवल ज्ञान कहा गया है. दर्शन चार प्रकार के हैं–चक्षु, अचक्षु, अवधि तथा केवल. किन्तु कर्म रूप पौद्गलिक द्रव्य के साथ सम्बद्ध रहने के कारण जीव का वास्तविक ज्ञान तथा वास्तविक दर्शन आच्छादित रहता है. इसलिये जीवनमुक्ति प्राप्त करने के लिये कर्म-पुद्गल का सम्बन्ध हटा देना आवश्यक है. जीव का चरम लक्ष्य केवलज्ञान तथा केवलदर्शन एवं सर्वज्ञता प्राप्त करना है. यह तभी सम्भव हो सकता है, जब जीव पूर्णतया उन कर्मों से पृथक् हो जाय, जिनमें वह आस्रवों के द्वारा लिप्त है. प्रत्येक अवस्था में जीव बन्ध में होता है. जीव की ये अवस्थाएं पृथ्वीकाय (पृथ्वी सम्बन्धी जीव) अप्काय (जल संबंधी जीव) वनस्पतिकाय (वनस्पति सम्बन्धी जीव) पशु, मनुष्य, देवता तथा दैत्यादि हैं. ये सभी जीव कर्मबन्धन में होते हैं. केवल मुक्त जीव ही कर्मपुद्गलरहित होता है.

अजीव—जैनदर्शन के अनुसार धर्म अधर्म, पुद्गल, आकाश तथा काल पाँच ऐसे द्रव्य हैं जिन्हें अजीव कहा गया है. धर्म तथा अधर्म जैन परिभाषा के अनुसार विशेष अर्थ रखते हैं. यहां पर धर्म का अर्थ सद्गुण अथवा धार्मिक विश्वास न होकर गति का आधारभूत नियम है. धर्म वह द्रव्य है, जो एक विशेष रूप से गति को सहायता देता है. वह सूक्ष्म-से-सूक्ष्म द्रव्य है और सूक्ष्म-से-सूक्ष्म गति को संभव बनाता है. इसी प्रकार अधर्म वह द्रव्य है, जो विशेष रूप से वस्तुओं की स्थिति में सहायक होता है. दूसरे शब्दों में धर्म का लक्षण गति है और अधर्म का लक्षण स्थिति है. पुद्गल निस्संदेह विशुद्ध भौतिक द्रव्य का नाम है. इसमें रस, रूप, गन्ध आदि के गुण उपस्थित रहते हैं. इसका विश्लेषण तथा सम्मिश्रण हो सकता है. यह आणविक है और इसका आधार होता है, इसलिये पुद्गल को रूपी कहा गया है. इसका सूक्ष्म-से-सूक्ष्म रूप अणु है और स्थूल-से-स्थूल रूप समस्त भौतिक विश्व रूप है. जैनदर्शन के अनुसार लम्बाई, चौड़ाई, सूक्ष्मता, स्थूलता, हल्कापन और भारीपन, बन्ध, पार्थक्य, आकार, प्रकाश तथा अन्धकार और धूप एवं छाया सभी पौद्गलिक तत्त्व हैं. जीव के बन्ध का अर्थ कर्मपुद्गल से प्रभावित होना है और निर्जरा का अर्थ पुद्गल का क्षय है. पुद्गल के इस रूप की व्याख्या करना इसलिये आवश्यक है कि जैन आचारशास्त्र का मुख्य उद्देश्य कर्मपुद्गल का अन्त करना है. संन्यास के नियमों का कठोरता से पालन करने एवं सम्यक्ज्ञान, सम्यक्दर्शन तथा सम्यक्चरित्र के अनुसरण करने का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उद्देश्य कर्मपुद्गल से निवृत्ति प्राप्त करना है. आकाश को भी जैनदर्शन में सर्वव्यापी द्रव्य स्वीकार किया गया है. आकाश के दो भाग हैं, लोकाकाश तथा अलोकाकाश. लोकाकाश, आकाश का वह भाग है जिसमें धर्म, अधर्म, पुद्गल जीव तथा काल स्थित होते हैं. अलोकाकाश वह (शून्य) द्रव्य है, जो लोकाकाश से परे है और जिसमें उपरोक्त पांचों द्रव्य नहीं हैं. अलोकाकाश में धर्म, अधर्म न होने के कारण किसी प्रकार की गति या स्थिति नहीं होती है.

जैनदर्शन में काल भी ऐसा द्रव्य स्वीकार किया गया है, जो पुद्गल तथा जीव के परिवर्तन का आधार है. हमें यह देखना है कि आकाश के लोक भाग में धर्म अधर्म पुद्गल तथा जीव होते हैं. पुद्गल और जीव गति और स्थिति से प्रभावित होते हैं. पुद्गल जीव को बन्ध में डाल देता है और जीव अपने आपको पुद्गल से मुक्त करके निर्जरा एवं जीवनमुक्ति प्राप्त करने की चेष्टा करता है. किन्तु इस प्रकार पुद्गल से निवृत्त होने की प्रक्रिया में, जीव अनेक परिवर्तनों से गुजरता है. पुद्गल में भी सूक्ष्मसे स्थूल बनने में परिवर्तन होते हैं. पुद्गल तथा जीव का यह परिवर्तन, जो कि इन दोनों के विकास का कारण है, काल तत्त्व पर आधारित है.

पुण्य—पुण्य का अर्थ शुभ कार्य माना जाता है. जैनदर्शन में भी पुण्य की यही परिभाषा स्वीकार की जाती है. किन्तु पुण्य के दो अंग हैं. क्रियात्मक दृष्टि से तो पुण्य एक शुभ कर्म है, जो जीव द्वारा किया जाता है. यदि शुभकर्म का अर्थ वह कर्म-पुद्गल हो जो जीव द्वारा संचित किया जाता है और जिसका आगामी काल में भोग किया जाता है, तो हम पुण्य के पौद्गलिक अंग की ओर संकेत कर रहे होते हैं. वास्तव में पुण्य एक प्रवृत्ति भी है और संस्कार भी. यहां पर प्रवृत्ति का अर्थ क्रियाशीलता और संस्कार का अर्थ कर्मपुद्गल है. जो क्रियाएँ शुभ संस्कारों को संचित करने में सहायता देती हैं वे पुण्य कहलाती हैं. जैनदर्शन के अनुसार नौ प्रकार के पुण्य स्वीकार किये गये हैं—(१) अन्नपुण्य (२) पानपुण्य (३) वस्त्रपुण्य (४) लयनपुण्य (५) शयनपुण्य (६) मनपुण्य (७) शरीरपुण्य (८) वचन पुण्य (९) नमस्कारपुण्य. अन्नपुण्य का अर्थ किसी ऐसे भूखे या दरिद्र या अकिंचन तपस्वी को भोजन देना है जो उसका पात्र है. इसी प्रकार पानपुण्य का अर्थ किसी प्यासे व्यक्ति की प्यास को बुझाना है. वस्त्रपुण्य का अर्थ उन लोगों को वस्त्र दान देना जिन्हें शरीर को ढंकने के लिये आवश्यकता है. जैनदर्शन के अनुसार यद्यपि अन्न, जल और वस्त्र का दान किसी भी सुपात्र व्यक्ति को दिया जा सकता है, तथापि ये तीनों संयमशील महाव्रती साधुओं के प्रति किये जायं तो उनका महत्त्व और भी अधिक हो जाता है. लयन तथा शयन पुण्यों का अर्थ ठहरने का स्थान तथा शयन के लिये पट्टा आदि देना है. मनपुण्य शरीर पुण्य तथा वचन पुण्य का अर्थ शरीर मन और वाणी का इस प्रकार प्रयोग करना है कि व्यक्ति हर प्रकार की हिंसा से बचे और दूसरों को धर्म तथा नैतिकता की ओर आकर्षित करे. नमस्कारपुण्य का अर्थ गुणी जनों को श्रद्धापूर्वक नमस्कार करना है.

पाप—जैनदृष्टिकोण के अनुसार पाप का अर्थ राग द्वेष आदि भावों से प्रभावित होकर निकृष्ट कर्म करना है. यह वास्तव में मनुष्य की नीच प्रवृत्तियों का उसकी शुभ प्रवृत्तियों के विरुद्ध आन्दोलन है. जैनदर्शन के अनुसार निम्नलिखित अठारह पाप माने गये हैं- (१) प्राणवध अथवा जीवहिंसा जिसका अर्थ किसी भी जीवधारी को अथवा उसकी जीवनशक्ति को क्षति पहुंचाना है. (२) असत्य अथवा मृषावाद अर्थात् असत्य बोलना. (३) अदत्तादान पाप अथवा प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से चोरी करना. (४) अब्रह्मचर्य पाप जिसका अर्थ मन अथवा शरीर द्वारा कामवृत्ति की तृप्ति करना है, (५) परिग्रह पाप, जिसका अर्थ अपनी सम्पत्ति में आसक्ति है. (६) क्रोधपाप (७) मान पाप अर्थात् अहंकार. (८) माया पाप अथवा छल-कपट. (९) लोभपाप अथवा लालच करना (१०) रागपाप अथवा आसक्ति (११) द्वेषपाप, जिसका अर्थ किसी भी जीव के प्रति घृणा रखना है. (१२) क्लेश पाप अथवा कलह. (१३) अभ्याख्यान पाप, जिसका अर्थ किसी व्यक्ति का अपमान करने के लिये अपवाद फैलाना है. (१४) पैशून्य पाप, जिसका अर्थ चुगलखोरी है. (१५) पर-परिवाद पाप, जिसका अर्थ दूसरों की निन्दा अथवा उनके दोषों पर बल देना है. (१६) रति-अरति पाप, जिसका अर्थ संयम में अरुचि और विषयभोग आदि में रुचि है. (१७) मायामृषा पाप, जिसका अर्थ औचित्य और सद्गुण के आवरण में अनुचित तथा दूषित कर्म करना है. (१८) मिथ्यादर्शनशल्य पाप जिसका अर्थ असत् को सत् स्वीकार करना है.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बन्ध—बन्ध का अर्थ जीव का उसी प्रकार कर्मपुद्गल से मिश्रित होना है, जिस प्रकार दूध में पानी का मिश्रण होना. जीव का कर्मपुद्गल से सम्बद्ध होना अनादि माना गया है. किन्तु ऐसा होते हुए भी यह बन्ध अनन्त नहीं है. व्यक्ति इस बन्ध को तोड़ सकता है और निर्जरा प्राप्त कर सकता है. उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है—"चरित्रसम्पन्न होने के कारण साधु मेरुपर्वत की भाँति स्थायित्व प्राप्त कर लेता है और कर्म के उन अंशों को नष्ट कर देता है, जो केवली में भी उपस्थित होते हैं. उसके पश्चात् वह पूर्णत्व, ज्ञान, मुक्ति तथा परम निर्जरा को प्राप्त करता है और सभी दुखों का अन्त कर देता है." यही अवस्था बन्ध से मुक्त होने की अवस्था है. बन्ध चार प्रकार के माने गए हैं—(१) प्रकृति बन्ध (२) स्थितिबन्ध (३) अनुभागबन्ध (४) प्रदेशबन्ध. बन्ध के ये विभिन्न वर्ग वास्तव में कर्मपुद्गल तथा जीव के परस्पर संयुक्त होने के विभिन्न स्तर हैं. प्रकृतिबन्ध का अर्थ है बंधनेवाले कर्म का स्वभाव; उदाहरण—ज्ञानावरणीय कर्म की प्रकृति ज्ञान को आच्छादित करने की है. इसी प्रकार दर्शनावरणीय कर्म की प्रकृति दर्शन (सामान्यज्ञान) को आच्छादित करने की है. स्थितिबन्ध कर्मपुद्गल तथा सायुज्य (Unity) को बतलाता है. अनुभागबन्ध कर्म के फल की तीव्रता और मन्दता को निर्दिष्ट करता है. प्रदेशबन्ध कर्मपुद्गल तथा जीव के सायुज्य के ऐसे प्रकार को बतलाता है जो दूध-पानी के मिश्रण की भाँति हो सकता है.

आस्रव–आस्रव जीव का वह वैभाविक गुण है, जो कर्म को आकर्षित करता है. इसे आत्मा का वह विकार एवं भाव कहा गया है जो शुभ तथा अशुभ कर्मपुद्गल तथा जीव को अपनी ओर आकर्षित करता है और जो उसे जीव में विलीन कर देता है. आस्रव कर्म की जीव में आगति अथवा अन्दर की ओर प्रवाह है. आस्रव की परिभाषा देते हुए श्रीपूर्णचंद नाहर ने लिखा है—'Asrava is the influx of the Karma particles into the Soul, or it may be said as the acquirement by the soul of the fine Karma matter from without" अर्थात् आस्रव कर्मपुद्गल का जीव में प्रवाह है अथवा उसे जीव के द्वारा बाहर से सूक्ष्म कर्मपुद्गल को ग्रहण करने की क्षमता कहा जा सकता है. आस्रव को प्रायः दो वर्गों में विभक्त किया जाता है. (१) भावआस्रव अथवा अन्तरात्मक प्रवाह. (२) द्रव्य-आस्रव अथवा विषयात्मक प्रवाह.

भाव-आस्रव का प्रवाह वह मानसिक अवस्था अथवा परिवर्तन है, जो जीव को इस प्रकार आकर्षक बना देता है मानों वह चुम्बक की भाँति कर्मपुद्गल को ग्रहण करने की क्षमता प्राप्त कर लेता है. द्रव्य-आस्रव का अर्थ वह कर्मपुद्गल है, जो जीव के द्वारा आकर्षित किया जाता है और संचित किया जाता है.

आस्रवों की एक और प्रकार की व्याख्या भी की गई है. इस दृष्टि से उनकी एक जलाशय की उन मोरियों से तुलना की गई है जिनके द्वारा जल अन्दर की ओर प्रवाहित होता है. इस दृष्टि से निम्नलिखित पाँच प्रकार के आस्रव माने गए हैं—(१) मिथ्यात्व (२) अविरति (३) प्रमाद (४) कषाय (५) योग.

मिथ्यात्व का अर्थ आधारभूत सत्ता के प्रति विपरीत धारणा एवं मिथ्या धारणा रखना है. अविरति का अर्थ त्याग के विपरीत झुकाव है. प्रमाद का अर्थ सत् कर्म के प्रति आलस्य है. कषाय का अर्थ राग-द्वेष का उत्पन्न होना तथा प्रभावशाली होना है और योग का अर्थ शरीर, मन तथा वचन की क्रिया है. योग को भी दो अन्य वर्गों में विभक्त किया गया है, जिन्हें शुभ योग तथा अशुभ योग कहा गया है. शुभ योग पुण्यबन्ध को उत्पन्न करता है और अशुभ योग पापबन्ध को. शुभ योग, जो शुभ पुण्य का संचय करने वाला है और कर्मपुद्गल के बन्ध का कारण है, जीव को निर्जरा की ओर अवश्य ले जाता है. यों तो जैन दर्शन में आस्रवों की बहुत बड़ी सूचियां दी गई हैं किन्तु अन्य सब आस्रवों को ऊपर दिये गये पाँच आस्रवों के अन्तर्गत किया जा सकता है.

संवर—आस्रव को बन्ध का कारण माना गया है. जैनदर्शन का मुख्य उद्देश्य बन्ध से पूर्णतया मुक्त होकर मोक्ष की प्राप्ति है, इसलिये जैनवाद की दृष्टि से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व वह है जो कर्म को पूर्णरूप से नष्ट कर देता है. इसी महत्त्वपूर्ण तत्त्व को जैनवाद में संवर कहा गया है. क्योंकि आस्रव जीव के वास्तविक रूप एवं उसकी स्वतंत्र तथा निहित दिव्य सत्ता को आच्छादित करता है, इसलिये संवर वह तत्त्व है जो आस्रव का विरोधी है और जीव की वास्तविक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सत्ता की स्थापना करता है. संवर के द्वारा आस्रव रूपी कर्मपुद्गल के प्रवाह को रोक दिया जाता है. संवर का अर्थ जीवन के उन नियमों का अपनाना तथा तपश्चर्या करना है, जो जीव को आस्रवों से मुक्त करे और नवीन कर्म-बन्धन का अंत कर दे. निम्नलिखित पांच मुख्य संवर उल्लेखनीय हैं—(१) सम्यक्त्व अथवा आधारभूत सत्ता में दृढ़ विश्वास (२) विरति अथवा अनासक्ति (३) अप्रमाद अथवा सावधानी (४) अकषाय अथवा क्रोधादि विकारों से निवृत्ति (५) अयोग अथवा शरीर, मन और वाणी की क्रियाओं से मुक्ति.

ये पंचविध संवर जीव का अन्तरात्मक परिवर्तन कर देते हैं. जैन शास्त्रों में इन संवरों की भी विस्तृत सूचियां दी गई हैं और ५७ संवर संबंधी नियम निर्धारित किये गये हैं. ५७ नियम निम्नलिखित रूप में संक्षेप में बताए जा सकते हैं. (क) पांच समितियां (ख) तीन गुप्तियां (ग) दस यतिधर्म (घ) बारह भावनाएं (ङ) बाईस परीषह और (च) पांच चारित्र.

इन ५७ नियमों की व्याख्या का हमारे विषय से विशेष संबंध नहीं है, क्योंकि ये सभी संवर विशेषतया साधुओं के व्यवहार से सम्बन्ध रखते हैं. यहां पर इतना कह देना पर्याप्त है कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पांच महाव्रतों का अनुसरण करने से और इन्हें किसी भी प्रकार भंग न होने देने से जीव कर्म के प्रभाव से मुक्त हो जाता है, और जब उसके कर्मों का क्षय हो जाता है, तो उसे मुक्त अवस्था की प्राप्ति होती है.

निर्जरा—निर्जराका अर्थ जीव की वह अवस्था है जिसमें कर्मपुद्गल का आंशिक क्षय हो जाता है. निर्जरा को स्पष्ट करने के लिये निम्नलिखित तीन उदाहरण उपयोगी सिद्ध होते हैं—(१)[जिस प्रकार जलाशय का गन्दा पानी मोरियों के द्वारा बाहर निकाल दिया जाता है, उसी प्रकार जब कर्म रूपी पानी आध्यात्मिक शासन के द्वारा बाहर निकाल दिया जाता है, तो व्यक्ति निर्जरा प्राप्त करता है. (२) जिस प्रकार घर से झाडू के द्वारा कूड़ा-कर्कट बाहर निकाल दिया जाता है, उसी प्रकार जब कर्म रूपी पानी आध्यात्मिक अनुशासन के द्वारा बाहर निकाल दिया जाता है, तो व्यक्ति निर्जरा प्राप्त करता है. (३) जिस प्रकार नाव में एकत्रित जल को हाथों से बाहर फेंक दिया जाता है, उसी प्रकार आत्मा में संचित कर्म को बाहर निकाल देना निर्जरा है.

मोक्ष—मोक्ष निःसंदेह जीव की कर्मपुद्गल से पूर्ण रूप से निवृत्ति है. हम ने यह पहले ही बतलाया है कि चार प्रकार के बन्धों के द्वारा जीव कर्मपुद्गल से जुड़ा रहता है. यद्यपि हमने बन्ध की व्याख्या ऊपर की है, तथापि मोक्ष की धारणा को उदाहरणों द्वारा अधिक स्पष्ट करने के लिये बन्ध के निम्नलिखित तीन उदाहरण देना आवश्यक है.

(१) जिस प्रकार दूध और मक्खन एक दूसरे में ओतप्रोत होते हैं उसी प्रकार जीव और कर्म बन्ध द्वारा एक दूसरे में विलीन होते हैं.

(२) जिस प्रकार धातु और मिट्टी एक दूसरे में विलीन होते हैं, उसी प्रकार आत्मा और कर्म बन्ध द्वारा एक दूसरे में जुड़े होते हैं.

(३) जिस प्रकार तिल और तेल एक दूसरे में ओतप्रोत होते हैं उसी प्रकार बन्ध द्वारा जीव और कर्म एक दूसरे में समाविष्ट होते हैं.

क्योंकि मोक्ष की अवस्था हर प्रकार के कर्म से जीव की पूर्ण निवृत्ति है, इसलिए निम्नलिखित उदाहरणों द्वारा मोक्ष की उचित व्यवस्था की जा सकती है—(१) जिस प्रकार तेल को कोल्हू के द्वारा तिल से निकाल लिया जाता है, उसी प्रकार जब आत्मसंयम और तपश्चर्या के द्वारा जीव को कर्म से पृथक् कर दिया जाता है, मनुष्य मोक्ष को प्राप्त करता है. (२) जिस प्रकार मक्खन को विलोने के द्वारा छाछ से पृथक् कर दिया जाता है उसी प्रकार जब जीव को तपश्चर्या और आत्मसंयम द्वारा कर्म से पृथक् कर दिया जाता है, तो मोक्ष प्राप्त करता है.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन आचारशास्त्र में संन्यासवाद

जैन आचारशास्त्र की विशेषता यह है कि वह अत्यन्त कठोर है, क्योंकि उसका परम उद्देश्य मोक्ष है, जिसका अर्थ अनन्त सुख, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन तथा अनन्त शक्ति है. इस असाधारण अवस्था की प्राप्ति स्वार्थ का पूर्णतया त्याग किये विना कदापि नहीं हो सकती. जैनदृष्टि से केवल संन्यासी ही इन कठोर नैतिक नियमों का अनुसरण कर सकता है, क्योंकि वह सभी सांसारिक बन्धनों को त्याग देता है. वास्तव में भारतीय दर्शन में प्रायः सभी सिद्धान्तों द्वारा संन्यास की भावना को अनन्त अवस्था प्राप्त करने का साधन माना गया है. आत्मानुभूति के लिये सभी सांसारिक वस्तुओं का त्याग करना आवश्यक माना गया है. इस प्रकार के उच्च संन्यासवाद की ओर प्रवृत्ति आत्मा की अनन्त बनने की प्रबल इच्छा से ही प्रेरित होती है. यह संन्यासवाद आत्माको विशाल बनाता है, व्यक्ति को उसकी स्वार्थ की भावनाओं से मुक्त करता है और एक ऐसे जीवन का निर्माण करता है, जिसमें मानवमात्र के लिये प्रेम तथा सहानुभूति की भावना की प्रधानता होती है.

संन्यासवाद का अर्थ सेवा तथा आत्मत्याग है. सेवा तथा आत्मत्याग का अनुसरण कायर तथा निर्बल व्यक्ति नहीं कर सकता, अपितु इस मार्ग पर वीर और साहसी आत्मा ही चल सकती है. एक सामान्य व्यक्ति को भले ही संन्यास का जीवन अपूर्ण प्रतीत होता हो किन्तु यह तथाकथित अपूर्ण जीवन वास्तव में पूर्ण जीवन है. इसी दृष्टि को लाओजू जैसे चीनी दार्शनिकों ने भी अपनाया है. लाओजू के अनुसार "सरल जीवन ऐसा निष्कपट जीवन है, जिसमें लाभ को एक ओर फेंक दिया जाता है, चातुर्य का त्याग किया जाता है, स्वार्थ तथा इच्छाओं का बलिदान कर दिया जाता है. यह पूर्णता का ऐसा नियम है जो अपूर्ण प्रतीत होता है, ऐसी सम्पन्नता है जो रिक्त दिखाई देती है, ऐसा पूर्ण सीधा मार्ग है जो टेढ़ा दिखता है ऐसी दक्षता है जो असुन्दर दिखाई देती है, और ऐसी वाक्पटुता है जो मौन दिखाई देती है. यह ऐसा जीवन है जो तलवार की धार की भांति तीखा है, किन्तु जो चुभता नहीं है. यह एक रेखा की भांति सीधा है किन्तु प्रसारित नहीं है. प्रकाश की भांति चमकदार है परन्तु आंखों को चुंधियाता नहीं है. यह वस्तुओं के उत्पादन तथा उनके पोषण का वह जीवन है, जिसमें उन वस्तुओं को अपना नहीं बनाया जाता है. यह कर्म में प्रवृत्त होने की विधि है जिसमें स्वाभिमान नहीं रहता है. यह एक ऐसा साम्राज्य है, जिसमें प्रभुत्व नहीं जमाया जाता."

संन्यास-जीवन का यह विचित्र लक्षण, जो कि एक विरोधाभास को प्रकट करता है, ऐसी जटिलता उत्पन्न करता है, जिसको सुलझाना सामान्य व्यक्ति का काम नहीं है. इस जीवन के मर्म को समझने के लिए ऐसे जीवन का गम्भीर अध्ययन करना चाहिए. हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि संन्यासी के जीवन का उद्देश्य मानवमात्र का उत्थान तथा उसका आदर्श एक सम्पूर्ण जीवन की प्राप्ति होने के कारण निराशावाद को वह प्रश्रय नहीं दे सकता. इसमें सन्देह नहीं कि संन्यासी जीवन के तथाकथित सुखों को घृणा की दृष्टि से देखता है किन्तु उसका उद्देश्य परम सुख होता है. वह अपने वातावरण के प्रति असन्तुष्ट या कम से कम तटस्थ दिखाई देता है, तथापि उसका मुख्य उद्देश्य परम सत्ता की अनुभूति होता है. भारतीय दर्शन को समझने के लिये हमें बुद्ध द्वारा प्रस्तुत चार आर्यसत्यों को नहीं भूलना चाहिए जो निम्नलिखित हैं:—

(१) विश्व में दुख है (२) उस दुख का कारण है (३) उस दुख का अन्त होता है तथा (४) इस उद्देश्य की प्राप्ति का उपाय है. इससे यह स्पष्ट होता है कि भारतीय दर्शन संन्यासवाद को निराशावाद के रूप में ग्रहण नहीं करता, अपितु उसे मोक्ष का साधन मात्र ही मानता है.

जैनवाद को श्रमणवाद इसलिए कहा जाता है कि इसके अनुसार केवल संन्यासी अथवा साधु ही अहिंसा का निरपेक्ष अनुसरण करके मोक्ष प्राप्त कर सकता है. यद्यपि इसमें गृहस्थियों के लिए भी नैतिक नियमों का प्रतिपादन किया गया है, तथापि जैन आचारशास्त्र प्रधानतया संन्यासवादी आचार शास्त्र है. गृहस्थ श्रावकों के लिये जिस प्रकार के आचार को प्रतिपादित किया जाता है, उसे अणुव्रत कहते हैं. किन्तु जो आचार साधुओं के लिये प्रतिपादित किया गया है, उसे महाव्रत कहा जाता है. महाव्रतों तथा अणुव्रतों की व्याख्या करने से पूर्व यह बताना आवश्यक है कि जैन आचारशास्त्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मोक्ष को ही एक मात्र पुरुषार्थ मानता है और मोक्ष की यह तत्त्वात्मक धारणा ही उसे पाश्चात्य आचारशास्त्र के सिद्धान्तों की अपेक्षा उत्कृष्ट प्रमाणित करती है.

जैनवाद के अनुसार मोक्ष की धारणा एक ऐसा अमूर्त आदर्श नहीं है, जो कि मनुष्यों को केवल इच्छाओं का अन्त करने की आज्ञा दे, और न ही वह पश्चिमी सुखवाद की भाँति इच्छाओं की निरकुंश तृप्ति को वांछनीय स्वीकार करता है. जब मोक्ष की प्राप्ति होती है तो व्यक्ति अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख, अनन्त दर्शन और अनन्त वीर्य प्राप्त करने के कारण पूर्णत्व का अनुभव करता है और उसकी इच्छाएं स्वतः ही समाप्त हो जाती हैं. इस प्रकार शाश्वत और व्यापक आत्मानुभूति में कान्ट द्वारा प्रस्तुत तर्कात्मक आकार तथा पश्चिमी सुखवाद द्वारा प्रतिपादित सुख की भौतिक सामग्री दोनों सम्मिलित होते है. मोक्ष निःसन्देह एक तर्कात्मक एवं प्रत्ययात्मक धारणा है और साधारण दृष्टि से भौतिक नहीं कहा जा सकता, किन्तु इसके साथ ही साथ मोक्ष की अनुभूति, जिसका अर्थ आत्मानुभूति है, नैतिकता को विश्वव्यापी आत्मा से सम्बन्धित करती है और इस व्यापक आत्मानुभूति में तर्क तथा सुख दोनों का समन्वय हो जाता है.

यह सत्य है कि एक पूर्ण नैतिक सिद्धांत के लिये एक ऐसी तत्त्वात्मक धारणा की आवश्यकता है, जो आदर्श होते हुए भी वास्तव में अनुभूत किया जा सके और जो व्यापक होते हुए भी अन्तरात्मक हो. यद्यपि कान्ट ने सद्गुण के आन्तरिक अंग पर बल दिया है, तथापि उसने एक बाहरी ईश्वर की मान्यता को अपने नैतिक सिद्धांत को पूर्ण बनाने के लिये ही स्वीकार किया है. कान्ट एक व्यापक दृष्टिकोण को ही आदर्श दृष्टिकोण मानता है और कहता है कि हमें अपने आपको तथा अन्य मनुष्यों को कदापि साधन न मान कर स्वलक्ष्य-साध्य ही स्वीकार करना चाहिए. वह एक उद्देश्यात्मक साम्राज्य स्थापित करने की चेष्टा करता है, यद्यपि उसका यह उद्देश्यवाद कुछ अस्पष्ट है. तथापि कान्ट की धारणा है कि सदाचार तथा सुख दोनों मिल कर पूर्ण शुभ का निर्माण करते हैं, तथापि वह यह स्पष्ट नहीं करता कि इन दोनों का परस्पर समन्वय कैसे किया जा सकता है ? इस जटिल समस्या को सुलझाने के लिये वह सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् ईश्वर की धारणा को स्वीकार करता है, जो प्रत्येक व्यक्ति को उसके सदाचार के अनुरूप सुख प्रदान करने वाला है. यह एक विचित्र बात है कि वह कान्ट, जो उद्देश्यात्मक साम्राज्य का समर्थक है और जो इस बात पर बल देता है कि मनुष्य स्वलक्ष्य है, वह स्वयं ईश्वर को सदाचार तथा सुख के समन्वय के उद्देश्य की पूर्ति के लिये साधन मात्र स्वीकार करता है. कान्ट मनुष्य को स्वलक्ष्य मानते हुए भी सदाचार के आत्मसंगत सिद्धांत को इसलिये संगत प्रमाणित नहीं कर सका क्योंकि वह आत्मानुभूति के सिद्धांत से अनभिज्ञ था, वह मोक्ष की धारणा का ज्ञान नहीं रखता था.

पश्चिमीय नैतिक सिद्धांत, नैतिकता को सापेक्ष स्वीकार करते हैं और उसे एक विरोधाभास मानते हैं. ब्रैडले ने अपनी पुस्तक 'नैतिक अध्ययन' (Ethical Studies) में लिखा है ......'नैतिकता में विरोधाभास तो है ही, वह हमें उस वस्तु को अनुभूत करने का आदेश देती है जिसकी (पूर्ण) अनुभूति कदापि नहीं हो सकती और यदि उसकी अनुभूति हो जाय तो वह स्वयं नष्ट हो जाती है. कोई भी व्यक्ति कभी भी पूर्णतया नैतिक नहीं रहा है और न भविष्य में हो सकता है. जहां पर अपूर्णता नहीं है, वहां पर कोई नैतिक औचित्य नहीं हो सकता. नैतिक औचित्य एक विरोधाभास है.'

क्योंकि मोक्ष की प्राप्ति की धारणा पाश्चात्य विचारकों को ज्ञात नहीं है, इसलिये वे इस तथ्य से अनभिज्ञ हैं कि नैतिकता के विरोधाभास को ऐसे स्तर पर पार किया जा सकता है, जो कि तर्क और बुद्धि से ऊंचा स्तर है. कान्ठ तत्त्वात्मक दृष्टि से तो अनुभवातीत सिद्धांत प्रस्तुत करता है. किन्तु वह अनुभवातीत नैतिक सिद्धांत (Transcendentalism in Ethics) प्रस्तुत नहीं कर सका. यही कारण है कि उसे धर्मवाद का आश्रय लेना पड़ा और बाह्यात्मक तथा वैयक्तिक ईश्वर की धारणा को स्वीकार करना पड़ा. जैनवाद मनुष्य के विरोधाभास और उसकी अपूर्णता से सन्तुष्ट नहीं रहता. उसके अनुसार मनुष्य स्वभाव से विरोधाभास से परे है और उसमें पूर्णत्व निहित है. उसके जीवन का उद्देश्य नैतिक तथा आध्यात्मिक अनुशासन के द्वारा इस अव्यक्त पूर्णत्व को व्यक्त करना है. मनुष्य में विरोधाभास नहीं है. हमें ऐसी नैतिकता को स्वीकार ही नहीं करना चाहिए, जो एक विरोधाभास हो. ब्रैडले ने स्वयं स्वीकार किया है "मनुष्य विरोधाभास से कुछ अधिक है." मेरी यह धारणा है कि यह आधिक्य वह आध्यात्मिक क्षमता है, जो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनुष्य को पूर्णता तथा समरूपता प्राप्त करने के योग्य बनाती है एवं उसे मोक्ष की अनुभूति कराती है. केवल ऐसी मोक्ष की धारणा के द्वारा ही आकार तथा सामग्री, सत् तथा असत्, शुभ तथा अशुभ, तर्क तथा सुख, सामाजिक तथा वैयक्तिक कल्याण के विरोध को दूर किया जा सकता है. नैतिकता के आदर्श के रूप में मोक्ष हमें आकार तथा सामग्री, तर्क तथा सुख देता है. इस प्रकार जैनवाद के अनुसार मोक्ष ही एक मात्र नैतिक आदर्श है. इस दृष्टिकोण को सामने रखते हुए हमें जैन आचारशास्त्र का अध्ययन करना चाहिए.

संन्यासी अथवा साधु की आचार-मीमांसा

जैनसिद्धांत के अनुसार अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह इन पांच महाव्रतों का अनुसरण करना मोक्ष का साधन है. जैनधर्म में इन्हीं पांच नियमों को साधुओं के आचार के आधारभूत नियमों के रूप में स्वीकार किया गया है. अहिंसा का अर्थ हर प्रकार की हिंसा से बचना है, चाहे वह हिंसा सूक्ष्म से सूक्ष्म अदृश्य जीवों की हो, चाहे वह पशुओं की हो और चाहे मनुष्यों की. हिंसा का अर्थ केवल शरीर द्वारा हिंसा करना ही नहीं है, अपितु मन और वचन द्वारा भी हिंसा करना है. जब जैन साधु अहिंसा का पालन करता है, वह हर प्रकार से यही चेष्टा करता है कि इस महाव्रत का यथासम्भव निरपेक्ष रूप से अनुसरण करे और मन, वचन तथा काया से किसी भी जीवधारी को दुःख न दे. यह तीन प्रकार की अहिंसा तीन गुप्तियों पर आधारित मानी जाती है. दूसरे शब्दों में मन, वचन तथा कर्म द्वारा महाव्रतों के पालन करने को तीन गुप्तियां कहा गया है. हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि सभी महाव्रतों का मूल आधार अहिंसा महाव्रत है. इस अहिंसा का निरपवाद अनुसरण करने के लिये ही अन्य चारित्र संबंधी नियमों को स्वीकार किया गया है. सत्य बोलना इसलिये आवश्यक है कि किसी के प्रति झूठ बोलने से उस व्यक्ति को कम से कम मानसिक आघात अवश्य पहुँचता है. यदि कोई व्यक्ति सत्य की अवहेलना करके केवल अहिंसा को अपनाने की चेष्टा करे तो वह कदापि ऐसा नहीं कर सकता. असत्य बोल कर हम निःसंदेह वचन द्वारा हिंसा करते हैं और दूसरे व्यक्ति के मन को दुःखी करते हैं. इसी प्रकार किसी व्यक्ति की संपत्ति को चुराना एवं तीसरे महाव्रत को भंग करना हिंसा है. जिस व्यक्ति की सम्पत्ति चुराई जाती है, निःसंदेह उसको मानसिक आघात पहुँचता है. अतः अस्तेय भी अहिंसा पर आधारित है. आधुनिक विज्ञान भी इस दृष्टिकोण को पुष्ट करता है कि ब्रह्मचर्य पर न चलने से अर्थात् काम की तृप्ति से असंख्य जीवों की हिंसा होती है. अतः ब्रह्मचर्य अहिंसा को पुष्ट करने का साधन है. अपरिग्रह का अर्थ आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति न रखना है. यह स्पष्ट है कि जो व्यक्ति आवश्यकता से अधिक धन-धान्य आदि रखता है, वह निःसंदेह उन निर्धनों और भूखों को जीवन की आवश्यकताओं से वंचित रख रहा है, जिनकी रक्षा करने के लिये अतिरिक्त धन और धान्य का सदुपयोग किया जा सकता है. अतः अपरिग्रह का अनुसरण करना अहिंसात्मक जीवन को पुष्ट करना है.

साधुओं का आचार पूर्णतया अहिंसात्मक माना गया है. इसलिये प्रत्येक जैन साधु को पाँच महाव्रतों और तीन गुप्तियों के साथ-साथ निम्नलिखित पाँच समितियों का भी अनुसरण करना पड़ता है :—(१) ईर्यासमिति अर्थात् जीवों की हिंसा से बचने के लिये सावधानी से चलना. (२) भाषासमिति—वचन द्वारा हिंसा से बचने के लिये भाषा पर नियंत्रण रखना. (३) एषणासमिति—साधु द्वारा भोजन तथा जल का सावधानी से निरीक्षण किया जाना और यह निश्चित करना कि जो अन्न तथा जल उसे दिया जा रहा है वह उसी के लिये तो प्रस्तुत नहीं किया गया. (४) आदान-निक्षेपणसमिति— सूक्ष्म जीवों को आघात न पहुँचाने की दृष्टि से नित्य की आवश्यक वस्तुओं को सावधानी से प्रयोग में लाना. (५) परिष्ठापनिका-समिति—अनावश्यक वस्तुओं को सावधानी से विसर्जित करना.

ये पाँच समितियां साधु को अहिंसा के मार्ग पर चलने में सहायता देती हैं और यह प्रमाणित करती हैं कि साधु का जीवन हर प्रकार से एक तटस्थता का जीवन होना चाहिए। साधु-आचार की यह तटस्थता इसलिये आवश्यक है कि इसी के द्वारा वह हर प्रकार के राग-द्वेष से मुक्त हो सकता है. जब तक साधु संसार के द्वन्द्वों से ऊपर उठ कर निरपेक्ष रूप से अहिंसा का पालन नहीं करता तब तक वह मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता. साधारणतया अहिंसा का अर्थ अन्य प्राणियों की रक्षा भी माना जाता है. यही कारण है कि अधिकतर जैन गृहस्थ अथवा श्रावक पक्षियों को दाना डालते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं और बीमार पशु-पक्षियों के लिये चिकित्सालय आदि बनवाते हैं. इस प्रकार दया को अहिंसा के समकक्ष स्वीकार किया जाता है. किन्तु जैनवाद में श्वेताम्बर सम्प्रदाय में "तेरापन्थ" नाम का मत अहिंसा की विचित्र व्याख्या करता है और उसे जीवन की रक्षा से पृथक् मानता है. अहिंसा की इस परिभाषा का निष्पक्ष विश्लेषण करना आवश्यक है, क्योंकि अहिंसा ही जैन नैतिकता का आदर्श है. जहां तक साधु-आचार का सम्बन्ध है निरपेक्ष दृष्टि पर आधारित अहिंसा की व्याख्या विशेष महत्त्व रखती है.

निरपेक्ष दृष्टि से जो अहिंसा की व्याख्या की जाती है, वह निःसंदेह जनसाधारण की परिधि से बाहर है और उसके अनुसार साधारण हिंसा और अनिवार्य हिंसा में कोई भेद नहीं है. इस दृष्टि से हिंसा हर अवस्था में और हर समय पर हिंसा ही है. यदि एक बार हम सूक्ष्म जीवों के अस्तित्व को स्वीकार कर लेते हैं तो कोई कारण नहीं कि कुछ मानवीय जीवों की रक्षा करने के लिये अनन्त सूक्ष्म जीवों की हिंसा को आध्यात्मिक दृष्टि से अनैतिक न समझा जाय. इस बात को तो स्वीकार किया जा सकता है कि इस प्रकार की निरपेक्ष अहिंसा का पालन करना एक बुद्धिमान् मनुष्य के लिये इसलिए असम्भव है कि वह सूक्ष्म जीवों के संहार के विना अपने आपको जीवित नहीं रख सकता. किन्तु तत्त्वात्मक आधार पर इस प्रकार की सापेक्ष हिंसा को अहिंसा कहना और ऐसे कर्म को मोक्ष की दृष्टि से संगत स्वीकार करना भी एक भूल है. तेरापंथियों की यह धारणा है कि मनुष्य विवश होकर सापेक्ष अहिंसा के मार्ग को अपनाता है और उसका ऐसा करना मोक्ष मार्ग के अनुकूल नहीं कहा जा सकता. उनकी यह धारणा है कि आध्यात्मिक जीवन में तथा व्यावहारिक जीवन में भेद है. मनुष्य को यह स्वीकार करना चाहिए कि वह निर्बल है और वह हर समय आध्यात्मिक नैतिकता का पालन नहीं कर सकता. निरपेक्ष अहिंसा, जो कि सूक्ष्म तथा स्थूल हर प्रकार के जीवों की हिंसा को समान रूप से अनैतिक मानती है, साधुजीवन का ही आदर्श बन सकती है. अहिंसा की यह धारणा तेरापंथ के अनुसार सूक्ष्म जीवों के प्रति तथा मनुष्यों के प्रति दया के भेद को स्वीकार नहीं करती.

यह तो स्वीकार किया जा सकता है कि मनुष्य निरपेक्ष रूप से अहिंसा को नहीं अपना सकता. महात्मा गांधी ने भी निरपेक्ष अहिंसा के विषय में इस प्रकार के विचार प्रकट किए हैं. उनके शब्दों में "निरपेक्ष एवं पूर्ण अहिंसा का अर्थ सभी जीवों के प्रति हर प्रकार की दुर्भावना से मुक्त रहना है और इसलिए उसके क्षेत्र में मानवेतर भयानक पशु तथा कीड़े भी सम्मिलित हो जाते हैं." एक और स्थान पर गांधीजी ने कहा है—"अहिंसा एक अत्यन्त भयानक शब्द है. मनुष्य बाह्यात्मक हिंसा के विना जीवित ही नहीं रह सकता. वह खाते, पीते, बैठते, उठते समय अनायास ही किसी-न-किसी प्रकार की हिंसा करता रहता है. उसी व्यक्ति को अहिंसा का पुजारी मानना चाहिए, जो इस प्रकार की हिंसा से निवृत्त होने का सतत प्रयास करता है, जिसका मन दया से पूर्ण है और जो सूक्ष्म जीवों की हिंसा की भी इच्छा नहीं करता. ऐसे मनुष्य का नियन्त्रण तथा उसके हृदय की कोमलता सदैव प्रवृद्ध होते चले जायेंगे. किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि कोई भी जीवित प्राणी बाह्यात्मक हिंसा से पूर्णतया मुक्त नहीं है."

महात्मा गांधी ने तो निरपेक्ष अहिंसा को असम्भव मानकर सापेक्ष अहिंसा को ही सामान्य मनुष्य के लिये आदर्श माना है. उन्होंने अपने लेखों तथा भाषणों में अनेक बार यह अभिव्यक्त किया है कि उनकी अहिंसा एक विशेष अहिंसा है. वह उन जीवधारियों के प्रति दया को अहिंसा नहीं मानते जो मनुष्यों का भक्षण कर जाते हैं किन्तु तेरापन्थी साधु यह मान कर चलते हैं कि विरक्त संन्यासी के लिए निरपेक्ष अहिंसा का पालन करना नितान्त आवश्यक है. इसलिये वे आध्यात्मिक दृष्टि से जीवरक्षा को अहिंसा नहीं मानते. उनका कहना यह है कि जीवरक्षा व्यावहारिक दृष्टि से सराहनीय मानी जा सकती है किन्तु आध्यात्मिक एवं मोक्ष की दृष्टि से उसे धर्म स्वीकार नहीं किया जा सकता है. इस मत के वर्तमान आचार्य तुलसी ने दया की परिभाषा करते हुए लिखा है "दया का अर्थ अपनी तथा अन्य प्राणियों की आत्मा की अधर्म से रक्षा करना है. व्यावहारिक जीवन में जीव की रक्षा को भी दया कहा जाता है."

हम यह कह सकते हैं कि जब आध्यात्मिक पूर्णता की तुलना में दया का मूल्यांकन किया जाता है तो वह अहिंसा की अपेक्षा न्यून स्तर का मूल्य प्रमाणित होती है. अतः इस मत के अनुसार जो व्यक्ति दया से प्रेरित होकर दूसरे के प्राणों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की रक्षा करता है, उसकी सराहना की जा सकती है, किन्तु यदि मोक्ष के स्थान पर दया को कर्म का प्रेरक माना जाय तो ऐसा कर्म आध्यात्मिक दृष्टि से अनुचित होगा. दया से प्रेरित होकर प्राण की रक्षा, अहिंसा के अतिरिक्त अन्य साधनों से भी की जा सकती है. ऐसी अवस्था में दया को मोक्ष के लिए उपयोगी नहीं माना जा सकता, क्योंकि साधु न तो धन रख सकता है और न किसी अन्य व्यक्ति को धन दे सकता है. यदि धन के स्थान पर व्याध को समझा-बुझा कर उसके मन को परिवर्तित कर दिया जाय तो यह कर्म आत्मा की रक्षा से प्रेरित होने के कारण मोक्ष-धर्म समझा जायेगा, यद्यपि इसमें प्राणी की रक्षा स्वतः ही हो जायेगी. इससे यह प्रतीत होता है कि केवल अध्यात्म और और अनुभवातीत दृष्टि से ही आत्मा की रक्षा को जीव की रक्षा की अपेक्षा उत्कृष्ट माना जा सकता है.

यहाँ पर स्मरण रखना चाहिये कि जहां तक साधु-आचार का सम्बन्ध है, कुछ सीमा तक प्राण-रक्षा की ओर तटस्थता को धर्म स्वीकार किया जा सकता है. क्योंकि साधु मुमुक्षु होता है, उसे शुभ अशुभ से ऊपर उठना पड़ता है और अहिंसा का पालन करते समय जीवों के प्रति तनिक मात्र राग-द्वेष से भी मुक्त रहना पड़ता है. शुभ तथा अशुभ कर्मों को जैन दर्शन में बन्ध माना गया है. जैनदर्शन के विख्यात विद्वान् श्री ए० एन० उपाध्ये ने लिखा है "शुभ तथा अशुभ कर्मों की लोहे तथा सोने की हथकड़ियों से उपमा दी जा सकती है. मोक्ष प्राप्त करने के लिये इन दोनों से मुक्त होना चाहिये. यह आवश्यक है कि आसक्ति को त्याग दिया जाय और व्यक्ति अपनी विशुद्ध आत्मा में ही स्थित होजाय, अन्यथा-समस्त तपश्चर्या और धार्मिक कर्म निरर्थक हैं.' किन्तु तेरापंथी इस तटस्थता पर आवश्यकता से अधिक बल देते हैं और प्राणरक्षा को केवल व्यावहारिक दया स्वीकार करते हैं. इस कर्त्तव्य को केवल व्यावहारिक कर्त्तव्य कह कर और उसका उत्तरदायित्व गृहस्थों पर छोड़ कर तेरापंथी आध्यात्मिक तटस्थता पर आवश्यकता से अधिक बल देते हैं. वे इस बात को भूल जाते हैं कि प्राणरक्षा करते समय भी एक साधु तटस्थ रह सकता है और इस प्रकार प्राणरक्षा भी आत्मा की रक्षा की भाँति आध्यात्मिक दया हो सकती हैं. विशेष कर साधु के लिए यह अनिवार्य नहीं है कि वह प्राणियों की रक्षा करते समय, उनके प्रति राग अथवा आसक्ति रखे. आध्यात्मिक आदर्श पर चलते हुए भी और प्राणों की रक्षा करते हुए घृणा, द्वेष, भय, आदि से निवृत्ति की प्राप्ति की जा सकती है.

ऐसा आदर्श हमें भगवद्गीता की स्थितप्रज्ञ की धारणा में मिलता है. भगवद्गीता के अनुसार स्थितप्रज्ञ वही है, जो दुखों का अनुभव करते समय उद्वेगरहित है, जो सुख का अनुभव करते समय अभिमान एवं आत्मप्रशंसा से रहित है और जिसके भय क्रोध आदि नष्ट हो गए हैं. एक साधु को भी दुख-सुख का अनुभव करना पड़ता है, क्योंकि ये अनुभव उसके पूर्व जन्म का फल होते हैं. किन्तु उसमें और गृहस्थ में अन्तर होता है कि गृहस्थ भावावेश से असन्तुलित अवस्था में होता है, जब कि साधु स्थितप्रज्ञ होने के कारण शांत होता है. वह न किसी व्यक्ति से प्रसन्न होता है न अप्रसन्न. शुभ अशुभ वस्तुओं के प्रति वह अनासक्त और तटस्थ रहता है. भगवद्गीता का यह आदर्श जैन साधु के आदर्श के सदृश है. कुन्दकुन्दाचार्य के शब्दों में—'अज्ञानी के लिये कर्म बन्ध का कारण बनता है, जब कि ज्ञानी आध्यात्मिक होने के कारण उस समय हल्का एवं सात्विक होता है, जब कि वह कर्म के फल को भोगता है. वह साधु जो जीवित प्राणियों की रक्षा करते समय आध्यात्मिक दृष्टिकोण से भावशून्य होता है और जिसका दृष्टिकोण विश्वातीत होता है, कदापि कर्म से आसक्त नहीं हो सकता और न ही उसका कर्म बन्ध को उत्पन्न कर सकता है."

स्थितप्रज्ञ की यह धारणा जैन धारणा के विपरीत नहीं है. कुन्दकुन्दाचार्य ने ज्ञानी की जो धारणा प्रस्तुत की है, वह स्थितप्रज्ञ की धारणा के सदृश है. कुन्दकुन्दाचार्य ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि ज्ञानी को अपनी आत्मा में ही स्थित रहना चाहिये और यह आत्मस्थिति ही उसे आनन्द देती है. इसी आत्मानुभूति के लिए ही अनासक्त रहना आवश्यक है. कुन्दकुन्दाचार्य ने प्रवचनसार में इस दृष्टिकोण की पुष्टि करते हुए स्पष्ट रूप से लिखा है—'परमाणु के बराबर तनिकमात्र आसक्ति भी आत्मानुभूति के लिए महान् आपत्ति का कारण है, यद्यपि किसी व्यक्ति ने सभी आगमों को कण्ठस्थ भी क्यों न कर लिया हो. व्यक्ति को अपनी आत्मा में निलीन हो कर आत्मस्थित रहना चाहिए, क्योंकि आत्मा ही ज्ञान का भण्डार है. इस प्रकार सन्तुष्ट रहना ही उत्कृष्ट एवं परम सुख है. भगवद्गीता के दूसरे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अध्याय का ५५ वाँ श्लोक, जो स्थितप्रज्ञ की ऐसी व्याख्या करता है, निम्नलिखित है—

"हे अर्जुन ! जब एक व्यक्ति मन से उत्पन्न अपनी सभी इच्छाओं को त्याग देता है और जब अपनी आत्मा के द्वारा अपनी आत्मा में स्थित हो कर सन्तुष्ट एवं तृप्त हो जाता है, तब वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है."

यह आदर्श श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को यह समझाने के लिए प्रतिपादित किया गया है कि यदि अर्जुन जैसा योद्धा निष्काम भाव से अपने कर्तव्य का पालन करे, तो वह कर्म के बन्धन में नहीं पड़ता. इसी प्रकार जैन मुमुक्षु एवं साधु भी प्राणों की रक्षा करता हुआ सन्तुलित रह सकता है और कर्म-पुद्गल से मुक्त हो सकता है. साधु तथा योद्धा के कर्तव्यों में भेद अवश्य हो सकता है, किन्तु साधु आचार का मार्गदर्शन करने वाले जैन सिद्धान्त तथा योद्धा के मार्ग-दर्शन करने वाले भगवद्गीता के सिद्धान्त का लक्ष्य एक ही है, भगवद्गीता के अनुसार मुमुक्षु एक साधु की भाँति फल की इच्छा से रहित होकर युद्ध-क्षेत्र में अपने कर्तव्य का पालन करता हुआ भी मोक्ष प्राप्त कर सकता है. किन्तु जैन साधु एवं मुमुक्षु एक विरक्त की भाँति प्राणरक्षा के भौतिक फल के प्रति तटस्थ रह कर आध्यात्मिक क्षेत्र में अपने कर्तव्य का पालन करता है, उसका उद्देश्य भी मोक्ष की प्राप्ति है. यदि एक सैनिक द्वारा आध्यात्मिक दृष्टि से किया गया देश की रक्षा का कर्तव्य मोक्ष प्राप्त करने में सहायक हो सकता है, तो अहिंसा के मार्ग पर चलने वाले साधु द्वारा तटस्थ दृष्टि से किया गया प्राणरक्षा का कर्तव्य भी अवश्य ही आध्यात्मिक माना जा सकता है. तेरापंथी अनासक्ति पर आवश्यकता से अधिक बल देते हुये यह भूल जाते हैं कि आत्मा की रक्षा की भाँति जीवरक्षा भी निष्काम भाव से हो सकती है.

जिस प्रकार मुमुक्षु के लिए प्राणरक्षा पर आवश्यकता से अधिक बल न देना इसलिए आवश्यक है कि वह कहीं मोक्ष के परम लक्ष्य को विस्मृत न करदे, उसी प्रकार उसके लिये आत्मा की रक्षा पर आवश्यकता से अधिक बल न देना भी इसलिये ही महत्त्वपूर्ण है कि वह कहीं प्राणरक्षा जैसे शुभ साधन की उपेक्षा न करदे. यदि आध्यात्मिक अंग की ओर उपेक्षा प्राणरक्षा को स्वलक्ष्य मानने की भ्रान्ति उत्पन्न कर सकती है, तो प्राणरक्षा को मोक्ष का साधन न मानने की प्रवृत्ति भी मुमुक्षु में प्राणरक्षा के प्रति घृणा उत्पन्न कर सकती है. यदि जीवित प्राणियों के प्रति राग, बन्ध का कारण है तो उनके प्रति घृणा भी बन्ध का ही कारण है. वास्तव में ये दोनों दृष्टिकोण एक दूसरे के पूरक हैं. जैनदर्शन में आत्मा की रक्षा तथा प्राणरक्षा दोनों को प्रतिपादित किया गया है. आत्मा की रक्षा निःसन्देह इस सिद्धान्त के तत्त्वात्मक लक्षण पर बल देती है, जब कि प्राणरक्षा तथा आत्मा की रक्षा दोनों ही साधु के लिये महत्त्वपूर्ण हैं और इन दोनों का समन्वय यह प्रमाणित करता है कि जैनवाद एक नैतिक तत्त्वात्मक (Ethicometaphysical) सिद्धान्त है.

श्रावकाचार (Ethics for laymen)

यद्यपि जैनवाद का यह मत है कि मोक्षप्राप्ति के लिये गृहस्थ तथा वानप्रस्थ आश्रमों से गुजरना अनिवार्य नहीं है. उनमें गुजरने से पूर्व ही संन्यास अपनाना आवश्यक है, तथापि एक गृहस्थ पांच महाव्रतों का आंशिक अनुसरण करके त्यागाश्रम के जीवन का अभ्यास कर सकता है. सभी जैन सम्प्रदाय यह स्वीकार करते हैं कि गृहस्थियों एवं श्रावकों के लिये अणुव्रतों का अनुसरण करना भी वास्तव में त्याग के जीवन का अभ्यास करना है. अणुव्रत का अर्थ महाव्रत का सूक्ष्म अंश अथवा अणु है. अणुव्रत वास्तव में महाव्रतों पर आधारित सरल नियम है.

इसमें कोई सन्देह नहीं कि अणुव्रतों की जैनमत में जो व्याख्या की गई है उसे देखते हुए वह हमारी अनेक नैतिक और सामाजिक समस्याओं को सुलझा सकते हैं. ये अणुव्रत न ही केवल एक मनुष्य को आत्मशुद्धि के द्वारा आत्मानुभूति करा सकते हैं, अपितु सत्य, अहिंसा, न्याय तथा साहस पर आधारित एक दृढ़ चरित्र का निर्माण कर सकते हैं.

जैनवाद के उपरोक्त अध्ययन से यह सिद्ध होता है कि इस दर्शन का विशेष लक्षण इसकी व्यावहारिकता है. इसका सुनिश्चित नैतिक अनुशासन व्यक्ति को सामान्य स्तर से ऊपर उठाता है और उसे सच्चरित्र द्वारा यथार्थ ज्ञान से अव-गत कराता है. जैनवाद को सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र के तीन नियमों पर आधारित माना गया है. इन्हीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तीनों नियमों को रत्नत्रयी कहा जाता है. सर्वप्रथम सम्यक्दर्शन एवं सम्यक् निष्ठा को इसीलिए स्थान दिया गया है कि निष्ठा के बिना न तो यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है और न सम्यक् चरित्र का अनुसरण किया जा सकता है. गीता के अनुसार भी यह कहा गया है 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानं, संशयात्मा विनश्यति' अर्थात् निष्ठा वाला व्यक्ति ही यथार्थ ज्ञान को प्राप्त करता है और सन्देह करने वाला व्यक्ति नाश को प्राप्त होता है. सम्यक् ज्ञान का आदर्श जैनदर्शन में प्रतिपादित उन नवतत्त्वों का ज्ञान है, जिनकी व्याख्या हमने ऊपर दी है. सम्यक्-चारित्र का अर्थ उन सत्यों को जीवन में अवतरित करना है, जिनको कि यथार्थ स्वीकार किया गया है. क्योंकि जैनवाद बन्धन से मुक्ति प्राप्त करने का साधन संवर मानता है, इसलिए इन्हीं महाव्रतों का अनुसरण करना अथवा उन पर आधारित अणुव्रतों को जीवन में अपनाना सम्यक्चरित्र माना जायेगा.

हमने ऊपर दिये गए विवेचन में यह देखा कि जैनवाद का आचारशास्त्र अहिंसा को परम धर्म मान कर चलता है और अहिंसा एक निषेधात्मक धारणा प्रतीत होती है. किन्तु जब इस महान् आदर्श को जीवन में अपनाया जाता है तो यह निषेधात्मक आदर्श से कहीं अधिक प्रमाणित होता है. इस आदर्श को निरपेक्ष रूप से जीवन में अपनाना कठिन ही नहीं, अपितु व्यावहारिक दृष्टि से असभंव प्रतीत होता है किन्तु अन्तरंग में पूर्ण अहिंसावृत्ति जाग्रत हो जाने पर अहिंसा के आचरण में भी पूर्णता आजाती है. अतः अहिंसा का मार्ग सरल मार्ग नहीं, अपितु एक तलवार की धार की भाँति कठिन मार्ग है. महात्मा गांधी ने भी अहिंसा की व्याख्या करते हुये अनेक बार कहा है "यह मार्ग निर्बल व भीरु व्यक्ति के लिये नहीं, अपितु वीर और साहसी व्यक्ति के लिये निर्धारित किया गया है." जैनवाद एक ऐसा सिद्धांत है जिसने युगों से अहिंसा के मार्ग को अपनाया है और जो आज तक भी इस उच्च आदर्श को जीवन में अवतरित कर रहा है. अहिंसा का अर्थ न ही केवल किसी व्यक्ति को आघात न पहुँचाना है, अपितु दूसरों की क्रियात्मक सेवा करना भी है. यद्यपि जैनवाद व्यक्तिगत रूप से अहिंसात्मक आदर्शों को जीवन में उतारने पर बल देता है, तथापि यह स्पष्ट है कि उसका उद्देश्य मानवमात्र का कल्याण और सामाजिक प्रगति है. आज विश्व आर्थिक दृष्टि से पूंजीवाद और साम्यवाद की दलबन्दी में ग्रस्त है. पूंजीवाद व्यक्ति को आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति एकत्रित करने की आज्ञा देकर न ही केवल लोभ के अवगुण को प्रोत्साहन देता है, परन्तु आर्थिक विषमताएँ उत्पन्न करने के कारण असंख्य मनुष्यों को भोजन से भी वंचित करता है. पूंजीवाद निःसन्देह परोक्ष रूप से हिंसा और शोषण को प्रोत्साहन देता है. साम्यवादी हिंसा का प्रयोग करके बलपूर्वक सम्पत्ति का वितरण करते हैं. और व्यक्ति की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का दमन करते हैं. इस पूंजीवाद और साम्यवाद के पारस्परिक संघर्ष का एक मात्र विकल्प आध्यात्मिक साम्यवाद है, जो निःसन्देह जैनवाद द्वारा प्रतिपादित अहिंसात्मक मार्ग की स्वाभाविक उत्पत्ति है. विनोबा भावे ने भारत में भूदान के यज्ञ में जो श्वेत क्रान्ति उत्पन्न की है वह वास्तव में अहिंसा और अपरिग्रह के नियमों पर आधारित है.

यहाँ पर यह कहना अनुचित न होगा कि महात्मा गांधी जी ने स्वतन्त्रता-संग्राम में जिस अहिंसात्मक मार्ग को अपनाया और जिसका अनुसरण करके उन्होंने अपने तथा अपने साथियों के उदात्त चरित्र का निर्माण किया, उसकी प्रेरणा उन्हें जैनवाद से अवश्य प्राप्त हुई है. अहिंसा को राजनीति में अपना कर और सत्याग्रह की प्रथा को सर्वप्रिय बनाकर महात्मा गांधी ने यह प्रमाणित कर दिया कि अहिंसा अणुव्रत के रूप में करोड़ों व्यक्तियों द्वारा एक साथ व्यावहारिक जीवन में अवतरित की जा सकती है. इस अहिंसात्मक मार्ग को अपनाना निःसन्देह स्वतन्त्रता संग्राम में अद्वितीय साहस और वीरता का काम था, क्योंकि इस संघर्ष में सत्याग्रही को शस्त्रों का सामना करना पड़ता था—चुपचाप दुख सहन करना पड़ता था. किन्तु महात्मा गांधी की सफलता ने यह प्रमाणित कर दिया है कि नैतिक शक्ति भौतिक शक्ति से अधिक बलवती है और सत्य पर आधारित अहिंसा की सदैव विजयी होती है.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org